

नागार्जुन के उपन्यास

डॉ. संतोष कौल काक

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बी. एम. रुइया गर्ल्स कॉलेज, मुम्बई, महाराष्ट्र, भारत।

प्रस्तावना

शिशुओं - सी सरलता, दहकते अंगारों सा ताप, हँसमुख चेहरा, विद्रोह, सहजस्फूर्त प्रतिभा, जाति-पाति, ऊँच-नीच तथा क्षेत्रीयता की भावना से परे, प्रत्युत्पन्नमति, आत्मीयता से भरा व्यक्तित्व था बाबा का जिन्हें आज हम नागार्जुन, यात्री, ठक्करन, बाबा, वैद्यनाथ मिश्र या आधुनिक युग का कबीर कहते हैं। तरौनी गाँव के गोकुल मिश्र एवं उमादेवी की इस संतान का जन्म अपने ननिहाल सतलखा ग्राम, पोस्ट मधुबनी, जिला दरभंगा में 1911 ई. की ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा अर्थात् 30 जून को हुआ था।

नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल हिंदी की प्रगतिशील कविता के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। सामाजिक चेतना, वैचारिक प्रतिबद्धता और अभिव्यक्ति कौशल की दृष्टि से इस त्रयी की रचनाएँ एक - दूसरे की पूरक हैं। हिंदी कविता को छायावादी संस्कारों से मुक्त कर उसके सहज विकास की एक दिशा निश्चित करने में इनका योगदान महत्वपूर्ण है। अपनी अभावग्रस्त पारिवारिक स्थिति के कारण सदैव संघर्षरत रहते हुए भी, मस्त यायावर की तरह, जिजीविषा से भरपूर जीवन जीनेवाले बाबा को यूँ सभी हिंदी के प्रगतिशील कवि के रूप में ज्यादा जानते हैं। ये भी कहा जाता है कि कवि की कसौटी उसका गद्य होता है। इस दृष्टि से बाबा नागार्जुन के गद्य साहित्य को जाने - बाबा ने मैथिली व हिंदी मिलाकर कुल बारह उपन्यास, तेरह कहानियाँ, अनेक निबंध, संस्मरण, यात्रा - वृत्तान्त, डायरी, दो ऐतिहासिक नाटकों की रचना के साथ - साथ आलोचना कर्म भी किया है। इन सभी पर चर्चा संक्षेप में करना अन्याय होगा, अतः उनके उपन्यासों के कथ्य पर दृष्टि डालते हुए संक्षेप में उसका वर्णन प्रस्तुत है।

1948 में उनका पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में रतिनाथ की विधवा चाची गौरी की शारीरिक - मानसिक यंत्रणा को रेखांकित करते हुए लेखक ने विधवाओं की दयनीय अवस्था एवं उनके शारीरिक - मानसिक तथा आर्थिक शोषण को साकार किया है। चाची गौरी के संघर्षों की समाप्ति उसकी मृत्यु के साथ ही होती है। इस उपन्यास में बाबा ने मिथिला के रहन - सहन, वहाँ के सामाजिक - सांस्कृतिक जीवन को उकेरते हुए मूलतः अनमेल विवाह, विधवा - समस्या, जाति - प्रथा, कुलीनता आदि समस्याओं का अपने व्यक्तिगत जीवनानुभवों के आधार पर अत्यंत संवेदनशील वर्णन किया है। गौरी का कहना - "हे भगवान्, अगले जन्म में मैं भले ही चुहिया होऊँ, भले ही नेवला, मगर चेतनामय इस मानव - समाज में फिर कभी न पैदा होऊँ"। गौरी का यह कथन समाज पर करारा व्यंग्य है। इस उपन्यास की अनेक घटनाएँ नागार्जुन के अपने जीवन से सम्बद्ध घटनाएँ हैं। यह भी माना जाता है कि यह एक तरह से बाबा की अपनी चाची को श्रद्धांजलि है।

1952 में प्रकाशित उनका दूसरा उपन्यास 'बलचनमा' है। इस उपन्यास में स्वातंत्र्योत्तर भारत के शासक - शोषक वर्ग की काली करतूतों से उत्पन्न विडम्बनाजनक कटु यथार्थ को, उसके शोषण का शिकार होते ईमानदार, साधनहीन आम जन, मजदूर एवं कृषक की पीड़ा को रेखांकित किया गया है। हम आये दिन होटलों में बर्तन माँजते, बोझा ढोते, रिक्शा चलाते, पटाखे बनाते, धरेलू नौकर बने हुए बाल - मजदूरों के बारे में पढ़ते - सुनते रहते हैं। इस उपन्यास का नायक बलचनमा भी बचपन से ही बाल मजदूर बन चुका है। प्रो. कुँवरपाल सिंह के अनुसार - "बाल मजदूरों पर इन दिनों बड़ी चर्चा है लेकिन अभाव, गरीबी किस तरह बच्चों को

मजदूरी करने पर विवश कर रही है, इसका यथार्थपरक चित्रण हमें 'बलचनमा' उपन्यास में मिलता है"।² यह बलचनमा किसान - जीवन के अभावों, दर्द व विषमताओं का भी मूर्तिमान रूप है। वह आम होते हुए भी तब खास बन जाता है जब वह संघर्ष की राह पर चलने का निर्णय करता है। जहाँ प्रेमचन्दजी का 'होरी' ग्राम्य - संस्कृति के मात्र ध्वंसावशेष बताता है, वहीं बलचनमा भावी निर्माण का स्वप्न जगाता है। गाँव से नगर की ओर बड़ी आशा, आकांक्षा, लालसा से ताक रहे व्यक्ति का अंत में नवीन अनुभूति लेकर नगर से गाँव लौटना प्रभावकारी है। इसके द्वारा लेखक ने पाठक और समाज में बड़ा ही सुन्दर स्वप्न जगाया है। अपनी जड़ और ज़मीन की ओर पुनः वापस लौटने का। इसका दूसरा भाग लिखने की लेखक की योजना थी, पाठक इंतज़ार करते रहे, पर यह संभव न हो पाया।

1953 में 'नई पौध' के नाम से प्रकाशित नागार्जुन का उपन्यास पहले मैथिली में 'नवतुरिया' नाम से लिखा गया था। इसमें मिथिला के पाँचवे - छठे दशक का परिवेश अंकित हुआ है। गरीबी से तंग आकर अपनी कन्याओं को बूढ़ों के हाथ बाँध या बेच देने की सामाजिक - आर्थिक समस्या ने लेखक को विचलित किया और इस उपन्यास की पृष्ठभूमि बन गयी यह स्थिति। इसमें देहज - प्रथा, अनमेल - विवाह और नारी - विक्रय का यथार्थ अंकन हुआ है। जब 60 वर्षीय चतुरानन चौधरी 14 वर्षीय बिसेसरी से विवाह करना चाहता है तो गाँव के नवयुवक एकजुट होकर इसका विरोध ही नहीं करते अपितु चौधरी को बारात सहित वापस भगा देते हैं और बिसेसरी का विवाह युवा वाचस्पति से करवाते हैं। यह नयी पौध रुढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह को सन्देह दिखाई देती है।

1954 में प्रकाशित हुआ 'बाबा बटेसरनाथ'। थीम की दृष्टि से 'बलचनमा' का पूरक यह उपन्यास कुछ - कुछ फैंटेसी शैली में रचा हुआ कहा जा सकता है। बाबा एक पुराने वटवृक्ष का मानवीय रूप हैं। गाँवों में पनप रही गरीबी, अशिक्षा, अन्धविश्वास, आपसी वैमनस्य आदि जैसी समस्याएँ ग्रामीणों के शोषण का एक बड़ा कारण बन जाती हैं। कभी ये शोषणकर्ता होते हैं ज़मींदार, कभी स्थानीय नेता तो कभी सेठ - साहूकार या अन्य अवसरवादी तत्व। इस कृति में सरकारी अमलों, जमींदारों, पुलिस के अत्याचारों के साथ - साथ अकाल, बाढ़, भूकंप, भुखमरी सहते गरीब किसानों के संघर्ष और स्वाधीनता - आन्दोलन के सन्दर्भों में स्वातंत्र्य - प्राप्ति के पहले के परिदृश्यों और उसके बाद के ग्रामीण परिदृश्यों का जीवंत चित्रण, चार पीढ़ियों के जीवन - संघर्ष का चित्रण झीनी बुनावट के साथ दीखता है। ग्रामीणों की अंधश्रद्धा, अंधविश्वास, उनके शोषण, जमींदारों व उनके गुर्गों की ज्यादतियाँ, सार्वजनिक संपत्ति पर रसूखदारों के कब्जे आदि के साथ - साथ असहयोग आन्दोलन, नमक आन्दोलन, नर्म दल, गर्म दल, गांधीवादी प्रभाव आदि के रोचक वर्णन परत - दर - परत पाठक को जकड़े रहते हैं। व्यंग्य तो नागार्जुन का सबसे बड़ा हथियार है कविता में भी और गद्य में भी। कथा में जगह - जगह व्यंग्य रच - बस गया है। "आज़ादी ! फि: ! आज़ादी मिली है हमारे उग्रमोहन बाबू को, कुलानंद दास को... कांग्रेस के टिकेट पर जो भी चुने गए हैं, उन्हें मिली है आज़ादी। मिनिस्ट्रों को तो और ऊँचे दर्जे की आज़ादी मिली है। सेक्रेटारियेट के बड़े साहबों को भी आज़ादी का फायदा पहुंचा है"।³ बाबा बटेसरनाथ को एक माध्यम के रूप में चुना है नागार्जुन ने, और जैकिसुन और अन्य छोटे - मोटे लोगों को संगठित होकर बड़ी ताकतों से न डरने का आह्वान करने की प्रेरणा देकर, ग्रामीण युवकों को विरोध, विद्रोह की अलख जगाकर, युवा वर्ग और किसानों में जागृति का निर्माण ही बाबा का प्रेय है। "झींगुर

एक तुच्छ कीड़ा होता है। सैंकड़ों - हजारों की तादाद में जब ये एक स्वर होकर आवाज़ करने लगते हैं तो एक अजीब समूह बंध जाता है। सामूहिक स्वर की इस एकाग्र महिमा के आगे मेरा मस्तक सदैव नत होता रहा और होता रहेगा”⁴ उपन्यास के अंतिम शब्द हैं - ‘स्वाधीनता, शांति और प्रगति’ इसके द्वारा लेखक जनचेतना व सामूहिक कल्याण का रास्ता दिखाता है।

1957 में प्रकाशित हुआ उपन्यास ‘वरुण के बेटे’। आज़ादी के बाद भी गाँवों की, गाँव के निम्न वर्ग एवं निम्न जाति के लोगों की बदहाली में खास परिवर्तन नहीं हुआ। इस बात को बिहार के ‘मलाही गोडियारी’ गाँव के मछुआरों की इस संघर्ष - कथा में नागार्जुन ने चित्रित किया है। जिन्हें आज़ादी नहीं मिली, ऐसे संकटों और अभावों से ग्रस्त मछुआरों की इस स्थिति के कारणीभूत हैं वे ज़मींदार जो जलाशयों को कब्ज़ियाए बैठे रहे। ‘बाबा बटेसरनाथ’ के टुनाई पाठक की तरह यहाँ भी पोखर व चरागाह हडपते - बेचते ज़मींदार हैं। मछुआरों की व्यथा - कथा कहते - कहते लेखक ज़मींदारों के विरुद्ध भोला, मंगल, माधुरी, माँझी जैसे चरित्र ज़मींदारों से मुकाबला करने के लिए खड़ा करता जाता है। ये चरित्र ‘बाबा बटेसरनाथ’ और ‘बलचनमा’ के चरित्रों की परंपरा में एक और कड़ी बन जाते हैं - जो व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष और क्रांति के लिए प्रयत्नरत हैं।

आकाशवाणी, इलाहाबाद के भारतभूषण अग्रवाल के आग्रह पर 13 खण्डों (अध्यायों) में लिखे गए उपन्यास ‘दुखमोचन’ का 13 किस्तों में इलाहाबाद - लखनऊ आकाशवाणी से प्रसारण किया गया। 1957 में प्रकाशित इस उपन्यास का नायक दुखमोचन गांधीवादी है और गांधीवादी आदर्शों की स्थापना के लिए लड़ता है। सहकारिता, ग्राम - रक्षा, राष्ट्र - विकास, श्रमदान आदि सरकारी योजनाओं में वह सहयोग करता है। ‘टमका कोइली’ गाँव के लोगों की छोटे - छोटे कार्यों में सहायता कर वह आम लोगों के हृदय में जगह बना लेता है। आँचलिकता का धुंधला स्पर्श लिए टमका कोइली गाँव के नवनिर्माण की इस कथा में गाँव का ही नहीं अपितु ग्रामीणों के मन, भावना और विश्वास का भी नवनिर्माण होता है। यह कहा जा सकता है कि यह किसी एक गाँव की नहीं अपितु देश के उन नाना गाँवों की, उनके नवनिर्माण की कहानी है जहाँ वर्ग - वैषम्य, सामाजिक असमानता, शोषण, अन्याय जैसी समस्याएँ विद्यमान हैं।

डॉ. जगन्नाथ पंडित का यह मत है कि “नागार्जुन के उपन्यास राजनीतिक रंगों में रंगे हुए हैं। उनमें जो नारेबाजी और ज़मींदारी शोषण के विरोध में किसान संगठन हैं, वह कोई आकस्मिक तत्व नहीं हैं। वह युग की एक अनिवार्यता और समय की माँग के तहत आया है”⁵

लेखक मानते हैं कि इस संसार में कई नरक हैं, उनमें से एक कुम्भीपाक है। पर 1960 में प्रकाशित नागार्जुन के उपन्यास ‘कुम्भीपाक’ में पुराण वर्णित वह कुम्भीपाक नहीं है अपितु इसमें हैं नगरों - महानगरों एवं निम्न मध्यवर्गीय समाज में अनेक प्रकार के शोषण का शिकार होती स्त्रियों की नारकीय त्रासदी यानि ‘कुम्भीपाक’। उपन्यास में चम्पा के इस कथन से स्त्री के दुःख का अनुमान लगाया जा सकता है, “नहीं, मैं खुश नहीं हूँ। कोई भी औरत खुश नहीं है कुंती। अच्छे घर की अच्छी बहुओं से जाकर पूछो, वे भी खुश नहीं हैं। हमारी घुटन और किस्म की तो उनकी घुटन और किस्म की होगी”⁶ जब स्त्री के लिए यँ भी समाज की विचारधारा संकीर्ण हो तब हमारे समाज में घर की दहलीज लांघनेवाली नारी के लिए, कुम्भीपाक रूपी नरक में पहुँची नारी के लिए न कोई सम्मान है, न कोई समाधान। नागार्जुन की प्रगतिशील दृष्टि इसी नारी - समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है और ऐसी नारियों को कुम्भीपाक के उस दलदल से निकाल कर नए जीवन की ओर प्रयत्नशील दिखाती है। उपन्यास में राय साहब कहते हैं - “बस यही आत्मविश्वास मैं स्त्रियों में देखना चाहता हूँ। श्रम, प्रज्ञा, सहयोग, विवेक और सुरुचि सभी आवश्यक हैं - चम्पा। पुरुषों की बपौती नहीं। स्त्रियों का भी साझा है उनमें”⁷

इस तरह प्रगतिशील नारी चरित्रों के माध्यम से लेखक ने सन्देश दिया है कि नारी को अपनी अस्मिता स्थापित करने के लिए अपनी शक्तियों को पहचानकर उनका विकास करना पड़ेगा।

नागार्जुन की 1957 में प्रकाशित कहानी ‘हीरक जयंती’, का 1962 में इसी नाम के उपन्यास और 1979 में ‘अभिनन्दन’ नाम से प्रकाशन हुआ। बिहार के शासक दल के एक मंत्री बाबू नरपति नारायण सिंह की कथा के माध्यम से इस उपन्यास में भी उन्होंने जनता की घुटन - पीड़ा के साथ - साथ कांग्रेस - शासन, व्यक्ति - पूजा, भ्रष्टाचार, तिकडमबाज़ी एवं शासकीय विसंगतियों का यथार्थ चित्रण करते हुए शक्तिशाली राजनेताओं के दोहरे चरित्र एवं उनके चाटुकारों पर भी व्यंग्य किया है।

बालेन्दुशेखर तिवारी के अनुसार, “‘हीरक जयंती’ प्रमाण है कि व्यंग्य हर समय अंतर्विरोधों और खलित चलनों के खिलाफ तेज़ हथियार की भूमिका में रहता है। नागार्जुन के पास परिवेशगत सड़ांध और मवाद को महसूस करनेवाली सही घ्राण - चेतना है। एक सनसनाती हुई तेज़ी के साथ कथाकार ने जो कुछ टूटने योग्य है, उसे तोड़ डालने का यत्न किया है”⁸

1963 में प्रकाशित ‘उग्रतारा’ में विधवा उगनी की कथा के माध्यम से लेखक ने विधवा - पुनर्विवाह का नए कोण से अंकन किया है। वह उस रूढ़िवादी समाज को कटघरे में ला खड़ा करता है जो स्त्रियों के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में अपनी योग्यता व कार्यक्षमता को प्रमाणित करने के बावजूद कॉलेजों से पढ़ - लिखकर निकली लड़कियों को, उनकी प्रतिभा और आज़ादी को अपनी पुरानी रूढ़िगत मान्यताओं के कारण लील लेता है। लेखक ने यहाँ भी दहेज़, अनमेल विवाह के साथ - साथ प्रेम संबंधों की वैधता - अवैधता जैसी समस्याओं के साथ स्त्री - शिक्षा को महत्त्व दिया है। “तीसरी आँख होती है विद्या, समझी”⁹ इस उपन्यास में नागार्जुन की प्रेम दृष्टि भी अद्भुत, समय से बहुत आगे की और क्रांतिकारी थी। उगनी और कमलेश्वर के माध्यम से एक क्रान्तिकारी विचार (उगनी के गर्भवती होने के बावजूद कमलेश्वर का उसे स्वीकारना) उपस्थित करते हुए लेखक ने अपनी प्रगतिशील दृष्टि का परिचय दिया है।

1968 में राजपाल एंड संस, दिल्ली से। ‘इमरतिया’ और किताब महल, इलाहाबाद से ‘जमनिया का बाबा’ नाम से प्रकाशित उपन्यास नागार्जुन का एक और महत्वपूर्ण उपन्यास है। (मैथिली भाषा में 1946 में प्रकाशित यह उनका प्रथम उपन्यास है) इस उपन्यास में साधु - संतों के कुचक्रों के बीच फँसी भावुक स्त्री इमरतिया की कथा के माध्यम से मठों की दुराचारपूर्ण जिंदगी, धार्मिक अंधविश्वास, साधु- संतों के पाखण्ड का बाबा ने बड़े साहसपूर्ण ढंग से पर्दाफाश किया है। भारत के लोगों की धर्मान्धता और अंधविश्वास का लाभ उठाकर, रामनामी ओढ़े न जाने कितने पोंगा पंडित, सिद्ध - संत, मठाधीशों की काली करतूतें आये दिन चौंकाती हैं। इस उपन्यास में ज़मींदारी उन्मूलन के साथ जमनिया और लखनौती के दो तीन ज़मींदारों द्वारा ज़मीन हथियाने के उद्देश्य से बहुत बड़े भू - भाग पर जमनिया मठ की स्थापना की जाती है। पापी दुराचारी, हत्या के अभियोग से भागते - फिरते मुसलमान जुलाहे करीमबख्शा की महंत के रूप में नियुक्ति के बावजूद इसका वास्तविक सञ्चालन ज़मींदारों, तस्करों, व्यापारियों के हाथ में है। मठ के तस्करी - व्यापार का केंद्र हो जाने की इस कथा में बाबा ने कुकृत्यों में लिप्त ऐसे मठों व पाखंडी संतों पर व्यंग्य किया है। धार्मिक भ्रमजाल का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण हिंदी के बहुत कम उपन्यासों में हुआ है।

पहले मैथिली में 1946 में रचित ‘पारो’ का हिंदी अनुवाद 1975 में कुलानंद मिश्र ने किया। ‘नई पौध’ की तरह इस उपन्यास के मूल में पुनः बेमेल विवाह, दहेज़, बाल - विवाह की समस्याओं को दर्शाया गया है। साथ ही इस उपन्यास में मिथिला के रीति - रिवाजों व घटनाओं का सुन्दर अंकन भी है। नारी हृदय की सम्पूर्ण वेदना इस उपन्यास में बड़ी ही मनोवैज्ञानिकता से चित्रित दिखाई देती है। नायिका पारो परम्परावादी पत्नी की तरह समझौता करने को तैयार नहीं है। उसकी इश्वर से यह प्रार्थना उसकी वेदना की मार्मिकता की द्योतक है, “हे भगवान ! लाख दंड दे, मगर फिर औरत बनाकर इस देश में जन्म नहीं दे”¹⁰

‘पारो’, ‘वरुण के बेटे’, ‘उग्रतारा’ आदि उपन्यासों के आधार पर कहा जा सकता है कि वे हमारे समाज के उन कोढ़ों और कलकों को पकड़ते हैं जो बरसों से हमारी चिंता का कारण बने हुए हैं।

1979 में प्रकाशित बाबा के अंतिम उपन्यास 'गरीबदास' में नागार्जुन ने वर्ग – संघर्ष के स्थान पर शोषित जनता की मुक्ति हेतु समन्वयवाद का मार्ग दिखाया है। नायक गरीबदास अपने आदर्श बाबासाहेब भीमराव आंबेडकर के मार्ग का अनुसरण कर दलित उत्थान के अनेक प्रयास करता है। लेखक ने इसमें भी सामाजिक समरसता व विकास के अपने स्वर को वाणी दी है।

स्वाधीनता के पश्चात देशवासियों को जिस मुक्ति, समता, शांति की कामना थी वह खंडित हुई। राजनितिक पतन, चरित्र – विघटन, आर्थिक विषमता, महंगाई, मानव संबंधों एवं मूल्यों में हुए हास और नैतिक पतन ने मोहभंग की स्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं। हत्या – लूटपाट, विद्वेष, घृणा, अविश्वास, शोषण भ्रष्टाचार जैसे विभिन्न विकराल सर्प हमारे विकास, हमारी उन्नति को ग्रस रहे थे। इस यथार्थ का स्वाभाविक अंकन स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में हुआ। नागार्जुन जैसे प्रगतिशील रचनाकारों ने इसके साथ – साथ तानाशाही, शोषण कारी शक्तियों के खिलाफ जनमत तैयार करने का कार्य, विरोध – विद्रोह और संघर्ष की प्रेरणा देने का कार्य भी अपने उपन्यासों के माध्यम से किया। नागार्जुन के लगभग सभी उपन्यासों में इन मुद्दों को देखा जा सकता है। जहाँ तक विचार का सम्बन्ध है उन्होंने वर्ग – संघर्ष के प्रेरक मार्क्सवाद को महत्वपूर्ण माना पर देशहित व जनहित से बढ़कर उससे सर्वोपरि उनके लिए कुछ था ही नहीं। एक लेखक के नाते वे अपनी रचनाओं के माध्यम से स्वतंत्रता, समता के प्रति अधिक वफादार दिखाई देते हैं। इसी कारण उनकी रचनाओं में सामान्यजन के प्रति, शोषितों के प्रति पक्षधरता साफ़ – साफ़ दिखाई देती है।

नागार्जुन को ग्रामीण – जीवन, वहाँ के वातावरण, वहाँ की समस्याओं की गहरी जानकारी थी। स्वयं उस परिवेश में रहने के कारण वह सब उनका देखा – भोगा हुआ था। इसी का असर उनकी रचनाओं में ग्रामीण - जीवन के चित्रण के रूप में दिखाई पड़ता है। इसके कारण आँचलिकता भी उनके उपन्यासों में दिखाई देती है। परन्तु यह आँचलिकता 'मैला आँचल' की तरह परंपरागत रूप में नहीं। क्योंकि उनका लक्ष्य अंचल का चित्रण नहीं अपितु उस शोषित – पीड़ित समाज व उनके संघर्ष का अंकन है, जिसे उन्होंने अपने अंचल से उठाकर अपने उपन्यासों में प्रतिष्ठित कर दिया। बलचनमा हो, इमरतिया हो, या दुखमोचन हो - सभी पात्र संघर्षरत हैं अपने – अपने परिवेश में। नागार्जुन की इन रचनाओं में विशेषकर मिथिलांचल, वहाँ की प्रकृति, लोकजीवन, वहाँ का परिवेश, वहाँ के लोकविश्वास और परम्पराएँ मूर्तिमान हो उठे हैं। शोभाकांत जी के शब्दों में, "नागार्जुन के उपन्यास अंचल विशेष पर केन्द्रित होते हुए भी किसी संकीर्ण अर्थ में आंचलिक नहीं हैं, वे सम्पूर्ण देश की जनता की सच्चाई को ठोस रूप में सामने लाते हैं"।¹¹

नागार्जुन का अनुभव – संसार इतना गहरा, कहने की अभिलाषा इतनी सघन और संवेदनशीलता इतनी तीव्र थी कि उन्हें अपने कथ्य पर अधिक जोर देकर कह देने की जितनी तीव्र धुन थी, उतनी कैसे और कितना कह दें, इसकी नहीं। फलस्वरूप कुछ आलोचक उनकी रचनाओं में शैलीगत कसावट की कमी को रेखांकित करते हैं।

संस्कृत, हिंदी, मैथिली, बंगला, पालि, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाओं के जानकर बाबा को भाषा के प्रति गहरा लगाव था। यूँ भी आधुनिक कथा – साहित्य में भाषागत उदारता देखी जाती है और आलोचक कृत्रिम भाषा की अपेक्षा सहज चित्रण के लिए भाषा के प्राकृत रूप का प्रयोग ही श्रेयस्कर मानते हैं। नागार्जुन की रचना में भी भाषा की यह सहजता, सरलता, सजगता व पात्रानुकूलता दिखाई देती है। उच्च वर्ग से लेकर निम्न वर्ग, ग्रामीण – नागरिक, स्त्री – पुरुष के भावगत मानसिक पार्थक्य को वे बखूबी व्यक्त करते हैं। उनकी भाषा यथार्थ जीवन – सन्दर्भों की भाषा है। उनके उपन्यासों की भाषा संरचना में तत्सम, तद्भव, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, गरमी एवं लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भी बखूबी हुआ है।

घुट – घुट कर मरना नहीं, मर – मरकर भी जीने का संकल्प, अदम्य जिजीविषा, संगठित होकर लड़ने, रुढ़ियों को तोड़कर आगे बढ़ने, चेतन होने का आह्वान उनकी रचनाओं के कथ्य में गुम्फित है। उनका कथ्य यथार्थ का वर्णन करके मात्र रुक नहीं जाता अपितु विकल्प खोजता दिखाई देता है। ऐसे बाबा शारीरिक रूप से आज इस संसार में चाहे न हों, पर उनके विचार, उनकी संघर्ष – भावना व आस्था उनकी रचनाओं के माध्यम से आगामी पीढ़ियों तक कायम रहेगी – बाबा के ही शब्दों में –

मैं न अभी मरनेवाला हूँ...

मर – मरकर जीनेवाला हूँ... संग तुम्हारे साथ तुम्हारे।

सन्दर्भ सूची

1. रतिनाथ की चाची, नागार्जुन, पृ. सं. 133।
2. उद्भावना, अंक 51 – 52, प्रो. कुंवरपाल सिंह, पृ. सं. 66।
3. बाबा बटेसरनाथ, नागार्जुन, पृ. सं. 127।
4. बाबा बटेसरनाथ, नागार्जुन, पृ. सं. 19।
5. कथाकार नागार्जुन, डॉ. जगन्नाथ पंडित, पृ. सं. 10।
6. कुम्भीपाक, नागार्जुन, पृ. सं. 82।
7. कुम्भीपाक, नागार्जुन, पृ. सं. 109।
8. नागार्जुन, सुरेशचन्द्र त्यागी, पृ. सं. 239।
9. उग्रतारा, नागार्जुन, पृ. सं. 55।
10. पारो, नागार्जुन, पृ. सं. 53।
11. नागार्जुन: चुनी हुई रचनाएँ – 1, शोभाकांत, पृ. सं. 13।